

प्रगतिशील कविता : स्त्री अस्मिता

रामाश्रय पटेल,

शोध-अध्येता, हिन्दी-विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)- 470003

हमारे देश में पुरुषवादी सत्ता व्यवस्था ने नारी को हमेशा आदर्शवाद का एक मुखौटा पहनाकर पेश किया है। उनके अनुसार स्त्री देवी, माँ, सहचरी तथा प्राण के सिंहासन पर विराजमान है। लेकिन यथार्थ ठीक इसके उलट है। इसलिए वह आज भी उपेक्षित है और उसकी अस्मिता की तलाश जारी है। आधुनिक समय में निराला ने कविता में स्त्री अस्मिता के सवाल को पहले-पहल उठाया। प्रगतिवादी काव्यांदोलन से पूर्व निराला बंगाल में प्रचलित शक्ति की उपासना से प्रभावित थे, इसका प्रत्यक्ष असर उनकी कविताओं में भी मिलता है। उनका यह अभिमत था कि नारी शक्ति की मौलिक सहयोग को तजकर सिद्धि की पूर्ण कामना नहीं की जा सकती है। 'राम की शक्ति पूजा' कविता के अन्तर्गत रावण से युद्ध में प्राप्त असफलता से हताश राम को आश्वासन देते हुए जाम्बवान के मुख से यही बात वह कहलवाते हैं :

“शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन,
छोड़ दो समर जब तक न सिद्धि हो, रघुनंदन !”¹

इतना ही नहीं अपितु वह पुरुषवादी सत्ता व्यवस्था को चुनौती देते हुए जड़ जमा चुकी सामन्तवादी मूल्यों को तोड़ने हेतु उनकी कविता में स्त्री संघर्षशील है, साथ ही अंग्रेजी पराधीनता की बेड़ियों को छिन्न-भिन्न कर देने का भी वह साहस रखती है-

“एक क्षण के बाद वह काँपी सुघर,
ढुलक माथे से गिरे सीकर,
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा-

“मैं तोड़ती पत्थर।”²

स्वाधीनता आंदोलन के दौरान स्त्रियों की सक्रिय भागीदारी के कारण यह आंदोलन अपने चरम तक पहुँचने में समर्थ हो सका। फलस्वरूप कालांतर में हम स्वाधीन हुए। आगे नागार्जुन, शमशेर बहादुर सिंह, केदारनाथ अग्रवाल आदि प्रगतिशील कवियों ने भी स्त्री संबंधी अस्मिता पर अपना ध्यान केंद्रित किया।

सामन्तवादी युग में अंतःपुर की पटरानी और झोपड़ी में निवासरत महिला दोनों की सामाजिक हैसियत पुरुष के मुकाबिले कमतर थी। आधुनिक भारतीय समाज में सामन्तवाद और पूँजीवाद के आपसी गठजोड़ ने स्त्रियों की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक बदलाव की प्रक्रिया में दोहरे शोषण को संभव बना दिया। अब वह सामन्तवादी व्यवस्था द्वारा निर्मित शोषण के साथ लालच और छल-छद्म पर आधारित पूँजीवादी शोषण का ‘सॉफ्ट टॉरगेट’ बन गई है। रघुवीर सहाय की ‘बैंक में लड़कियाँ’ शीर्षक कविता इसी विडम्बना पर आधारित है-

“बैंक में लड़कियाँ/ बड़ी होती जाती हैं/ और इतनी भीड़ से घिरी हुई एकाकी/ वह अपने तीस बरस/ औरत और व्यक्ति के बनने के तीस बरस/ लिए हुए रोज यहाँ आती है वक्त से/ ध्यान से सुनती है नौजवान ग्राहक को/ खो नहीं जाती है स्वप्न में/ उस लड़के को कहीं जाने नहीं देती है फ़िलहाल/ फिर चला जाता है वह अपने काम से/ इस लेनदेन के बाद वह बजाती है एक सुहानी घण्टी/ दौड़ कर भीड़ भर जाती है छोटे छोटे पुरुषों की एकान्त में/ कुटे पिये चेहरों पर लालच लिये हुए/ खिड़की से झाँकते।”³

इस कविता के आलोक में कवि एवं आलोचक विजय कुमार का यह कथन बेहद प्रासंगिक है कि “रघुवीर सहाय की कविताओं में स्त्री की उपस्थिति इसीलिए अधिक सजीव लगती है कि वे केवल उसकी स्थिति का चित्र नहीं देते बल्कि उसी के साथ उस स्थिति को अनुभव करने वाले अपने मन को भी जानना चाहते हैं।”⁴ रघुवीर सहाय महज आधुनिक शोषण की प्रक्रियाओं को ही अभिव्यक्त नहीं करते, बल्कि वे स्त्री को दास बना देने की पुरातनपंथी मानसिकता को भी प्रकट करने से नहीं चूकते :

“पढ़िए गीता
बनिए सीता
फिर इन सबमें लगा पलीता
किसी मूर्ख की हो परिणीता
निज घरबार बसाइये।
होंय कँटीली
आँखें गीली
लकड़ी सीली, तबियत ढीली
घर की सबसे बड़ी पतीली
भरकर भात पसाइये।”⁵

अपनी अस्मिता के संदर्भ में आज स्त्री स्वयं सचेत है। उसकी देह को सदियों से भोग-विलास की वस्तु माने जाने का वह विरोध कर रही है-

“तन के भूगोल से परे
एक स्त्री के
मन की गाँठें खोल कर
कभी पढ़ा है तुमने
उसके भीतर का खौलता इतिहास ?”⁶

इसके प्रति वह आक्रोशित है। वह सामाजिक समानता संबंधी अपने अधिकार के प्रति निरंतर संघर्षरत है। स्त्री-पुरुष की काया के अलग होने से स्त्री को देह तक सीमित कर रख दिया गया। इसलिए वह नर-नारी संबंधी देह-विमर्श के प्रश्नों से मुक्त होना चाहती है। राजेन्द्र यादव ने किसी साक्षात्कार के दौरान कहा था कि हमारा साहित्य भी उन्हें देह के सीमित दायरे में समेट कर रख देने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ा है। उनका यह कहना था-

“हमारे पुराने साहित्य में स्त्री को कहीं व्यक्ति के रूप में देखा गया हो याद नहीं आता, वह सिर्फ देह है। मछलियों सी आँख, अनारदाने की तरह दाँत, गुलाबी अधर या फिर कटि और नितम्बों की नाप-जोख.... आखिर इसमें स्त्री कहाँ है। कभी किसी ने इन्हीं उपमानों के आधार पर स्त्री का एक चित्र बनाया था, जिसमें उसने स्त्री अंगों की जगह उपमानों में प्रयुक्त चीजों या जीवांगों को रख दिया, यह इतना वीभत्स था कि पूछो नहीं। मुझे यही आश्चर्य होता रहा कि स्त्री देह किस तरह पुरुष के खिलवाड़ की चीज है। संस्कृत साहित्य से लेकर सारी रीतिकालीन कविताएँ स्त्री की देह वंदना ही है।जब स्त्री देह में बंधी हुई है, तो उसकी मुक्ति देह के सिवा और कहाँ से होगी।”⁷

यहाँ देह से मुक्ति का आशय मर्दवादी व्यवस्था के आगे शरीर की नुमाइश करना नहीं है। धूमिल के शब्दों में सामंतवाद से लेकर पूँजीवादी व्यवस्था तक सबने स्त्री को उपभोग की वस्तु में तब्दील कर दिया है-

“स्त्री-
देह के अँधेरे में
बिस्तर की
अराजकता है।
स्त्री पूँजी है
बीड़ी से लेकर
बिस्तर तक
विज्ञापन में फैली हुई।”⁸

उसे जिस तरह केवल यौनाशय और गर्भाशय के दायरे में समेट कर रख दिया गया है, वह उसका विरोध करती है। सेक्स से लेकर गर्भधारण के उपरान्त भी उसे प्रेम नसीब नहीं हो पाता, जिसकी वास्तव में वे हकदार हैं। प्रेम के अभाव में स्त्री की दुर्दशा और भटकाव की स्थिति का बेहद मार्मिक चित्रण कवि राजेश जोशी ने किया है-

“लड़की ने कहा कितना अजीब लगता है हँसती जैसा चाँद
और यह कितना रहस्यमय है कि हम उसके स्वप्नों में जायें
जिन्हें हम जानते ही नहीं
मैंने कहा स्वप्न किसी के पराधीन नहीं होते!
लड़की हँसी लेकिन उसके हँसाने में आवाज नहीं थी!
जानते हो लड़की ने कहा, एक सुनार से गहने गढ़वाने के लिए
परियों ने अपने उड़ने वाले जूते गिरवी रख दिए हैं और
तितलियों ने फूलों के रस के लिए अपने पंख बेच डाले हैं !
मैं सिर्फ दूसरों के सपनों में भटक रही हूँ
लेकिन मेरी नींद में बस एक निचाट रात है !”⁹

स्त्रियाँ आज घर की कोठर से बाहर निकल कर सभी क्षेत्रों में पुरुषों को चुनौती दे रही हैं। चूल्हे-चौके की सरहद से आगे बढ़कर वे पूरी धरती पर अपना परचम फहराने लगी हैं। हालाँकि इस दौरान पुरातनपंथी मानसिकता का आतंक भी अपने शबाब पर रहा है। कात्यायनी पुरानी रुग्ण मानसिकता के चरम को विफल करती हुई 'हॉकी खेलती हुई लड़कियों' के माध्यम से उनकी एक नयी अस्मिता को पूरी दुनिया के सामने गढ़ती हैं-

“अम्मा कोसेगी-/ किस घड़ी में पैदा किया था/ ऐसी कुलच्छनी बेटा को !/ बाबूजी चीखेंगे-/ 'सब तुम्हारा बिगाड़ा हुआ है!'/ घर फिर एक अँधेरे में डूब जाएगा/ सब सो जाएंगे/ लड़कियाँ घूरेगी अँधेरे में/ खटियाँ पर चित्त लेटी हुई/ अम्मा की लम्बी साँसें सुनतीं/ इंतज़ार करती हुई/ कि अभी वे आकर उनका सिर सहलाएंगी/ सो जाएंगी लड़कियाँ/ सपने में दौड़ती हुई बॉल के पीछे/ स्टिक को साधे हुए हाथों में/ पृथ्वी के छोर पर पहुँच जाएंगी/ और 'गोल-गोल' चिल्लाती हुई/ एक-दूसरे को चूमती हुई/ लिपटकर धरती पर गिर जाएंगी !”¹⁰

पितृसत्ता द्वारा प्राचीन समय से निरंतर स्त्री को दमित और शोषित किए जाने के कारण उनमें 'अस्मिता' का सवाल पैदा हुआ। 'उत्तर-औपनिवेशिकता और स्त्री प्रश्न' के अन्तर्गत प्रणय कृष्ण इसके कारण को समझाते हुए लिखते हैं, “अस्मिता' या 'आत्म पहचान' 'अन्य' के बगैर नहीं बनती। कोई भी 'अस्मिता' 'अन्य' करण की प्रक्रिया का परिणाम है। हम क्या हैं, यह इससे तय होगा कि 'क्या' हम नहीं है। 'आत्म' और 'अन्य' की विभेदात्मक अर्थप्रक्रिया 'अस्मिता' के सभी विमर्शों के केन्द्र में है। ये 'अस्मिताएँ

राष्ट्रीय, जातीय, नस्लीय, लैंगिक कुछ भी हो सकती हैं।¹¹ अपनी अस्मिता या पहचान को हासिल करने के लिए स्त्रियाँ सदियों से ही पितृसत्ता की जातीय, धर्म और लैंगिकता के नाम पर बनायी गयी बेड़ियों को तोड़कर चुनौती देती आ रही हैं। अपनी स्वतंत्र सत्ता को पाने की खातिर अक्सर लड़कियाँ घर से भाग जाने का स्वप्न देखती हैं। सचमुच 'भागी हुई लड़कियों' की तुलना में उनकी आबादी कहीं अधिक है। लेकिन कवि आलोकधन्वा के अनुसार अपनी स्वतंत्र अस्मिता को पाने की खातिर घर से 'भागी हुई लड़कियाँ' ही स्त्री समानाधिकार की चेतना का अलख सही मायने में जगा सकती हैं-

“वह कोई पहली लड़की नहीं है
जो भागी है
और न वह अंतिम लड़की होगी
अभी और भी लड़के होंगे
और भी लड़कियाँ होंगी
जो भागेंगे मार्च के महीने में...
लड़की भागती है
जैसे फूलों में गुम होती हुई
तारों में गुम होती हुई
तैराकी की पोशाक में दौड़ती हुई
खचाखच भरे जगरमगर स्टेडियम में”¹²

'स्त्री अस्मिता' के संदर्भ में यह तोषप्रद है कि आज लड़कियाँ केवल प्रेम-प्रसंग को लेकर ही घर से विद्रोह नहीं कर रही हैं, अपितु जीवन के विविध प्रसंगों की पूर्ति के लिए भी उनमें पुरानी रूढ़ियों से विरोध की तपिश मौजूद है।

संदर्भ ग्रंथ :

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', 'अपरा', राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1992, पृ. 49
2. वही, पृ. 27
3. रघुवीर सहाय, 'लोग भूल गये हैं', राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1982, पृ. 74
4. विजय कुमार, 'कविता की संगत', आधार प्रकाशन, पंचकूला, 1995, पृ. 54
5. सुरेश शर्मा (सं.), रघुवीर सहाय : 'प्रतिनिधि कविताएँ', राजकमल पेपरबैक्स, नयी दिल्ली, 1994, पृ. 28-29
6. निर्मला पुतुल, 'नगाड़े की तरह बजते शब्द', भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2012, पृ. 8
7. संगीता आनंद (सं.), 'वर्तमान संदर्भ' (त्रैमासिक), अगस्त 2009, वर्ष 8, अंक 18, पृ. 70

8. धूमिल, 'सुदामा पाँडे का प्रजातन्त्र', वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2001, पृ. 130
9. राजेश जोशी, 'नेपथ्य में हँसी', राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1994, पृ. 72
10. प्रो. कमला प्रसाद, राजेन्द्र शर्मा, 'स्त्री : मुक्ति का सपना', वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2014, पृ. 141
11. प्रणय कृष्ण, 'उत्तर-औपनिवेशिकता के स्रोत और हिन्दी साहित्य', हिन्दी परिषद् प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृ. 248-249
12. आलोकधन्वा, 'दुनिया रोज़ बनती है', राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1998, पृ. 43